॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अलौकिक प्रेम

शरत्पूर्णिमाकी चाँदनी रातमें जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बाँसुरी बजानी आरम्भ की, तब उसकी मधुर एवं चित्ताकर्षक ध्वनिको सुनकर गोपियाँ जिस अवस्थामें थीं, उसी अवस्थामें श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये वेगपूर्वक चल पड़ीं। यह प्रेमकी ऐसी विलक्षण स्थिति थी कि स्वयं गोपियोंको ही पता नहीं था कि हम कौन हैं! कहाँ जा रही हैं! क्यों जा रही हैं! भगवान्का सब कुछ दिव्य है, अलौकिक है, चिन्मय है! अतः उनकी बाँसुरी भी दिव्य थी और

उसकी ध्वनि भी। उस दिव्य ध्वनिको सुननेपर गोपियोंमें भी जडता नहीं रही और वे चिन्मय होकर चिन्मयसे मिलनेके लिये चल पड़ीं!

'काम' (लौकिक शृङ्गार) में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इसलिये उनमें विशेष सावधानी रहती है और वे अपने शरीरको सजाते हैं। परन्तु 'प्रेम' में सुख लेनेका, अपनी ओर खींचनेका किञ्चिन्मात्र भी भाव न होनेसे यह सावधानी नहीं रहती,प्रत्युत अपने शरीरकी भी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये गोपियाँ अपनेको सजाना, शृङ्गार करना भूल गयीं और वंशीध्वनि सुनते ही वे जैसी थीं, वैसी ही अस्त-व्यस्त वस्त्रोंके

साथ चल पड़ीं—'**व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः**' (श्रीमद्भा० १०। २९। ७)।

उस समय कुछ गोपियोंको उनके पति, पुत्र आदिने अथवा पिता, भाई आदिने घरमें ही बन्द कर दिया, जिससे उनको घरसे निकलनेका मार्ग नहीं मिला। मार्ग न मिलनेपर उन गोपियोंकी क्या दशा हुई—इस विषयमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १०-११)

'उन गोपियोंके हृदयमें अपने परम

प्रियतम श्रीकृष्णके असह्य विरहका जो तीव्र ताप हुआ, उससे उनका अशुभ जल गया और ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका आलिङ्गन करनेसे जो सुख हुआ, उससे उनका मङ्गल नष्ट हो गया।'

'यद्यपि उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें जारबुद्धि थी, फिर भी एकमात्र परमात्मा (श्रीकृष्ण) के साथ सम्बन्ध होनेसे उनके सम्पूर्ण बन्धन तत्काल एवं सर्वथा नष्ट हो गये और उन्होंने अपने गुणमय शरीरका त्याग कर दिया।'

अगर उपर्युक्त श्लोकोंपर विचार करते हुए ऐसा मानें कि भगवान्‌के विरहकी तीव्र जलनसे गोपियोंके पाप नष्ट हो गये—'**धुताशुभाः**' तथा ध्यानजनित सुखसे पुण्य नष्ट हो गये—'**क्षीणमङ्गलाः**' और

इस प्रकार पाप-पुण्यसे रहित (मुक्त) होकर वे भगवान्‌से जा मिलीं तो यह बात युक्तिसंगत नहीं दीखती। कारण कि विरह और मिलन पाप-पुण्यसे ऊँचा उठनेपर ही होते हैं। पाप-पुण्यसे होनेवाले सुख-दुःख तो प्राकृत हैं, पर भगवान्‌को लेकर होनेवाले सुख-दुःख (मिलन-विरह) प्राकृत नहीं हैं, प्रत्युत अलौकिक हैं। भगवान्‌का विरह और मिलन तो गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है, पर पाप और पुण्य गुणोंके सम्बन्धसे होते हैं। गुणोंसे सम्बन्ध न हो तो पाप-पुण्य हो सकते ही नहीं। भगवान्‌के प्रेममें होनेवाले सुख-दुःखको अर्थात् मिलन-विरहको पाप-पुण्यका फल कहना वास्तवमें उसकी निन्दा है। भगवान्‌के सम्बन्धसे योग होता है, भोग नहीं होता। भोग तो पापोंका

कारण है।*

एक विचारणीय बात है कि पाप और पुण्यका नाश सुखी-दुःखी होनेसे नहीं होता, प्रत्युत अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आनेसे होता है। सुखी-दुःखी होना पाप-पुण्यका फल नहीं है, प्रत्युत अज्ञता (मूर्खता) का फल है। परन्तु भगवान्‌का विरह प्रेमका फल है। भगवान्‌से सम्बन्ध होनेपर अज्ञता कैसे रह सकती है! अज्ञता न ज्ञानमें रहती है, न प्रेममें। मनुष्य तभीतक सुखी-दुःखी होता है, जबतक उसको अपने स्वरूपका बोध नहीं होता अथवा उसका भगवान्‌में प्रेम नहीं होता।

पाप-पुण्य नष्ट होना कोई बड़ी बात नहीं

---

*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

है। पाप-पुण्य तो हरेक आदमीके नष्ट होते रहते हैं; क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हरेक प्राणीके सामने आती-जाती रहती है। स्वर्गमें निरन्तर पुण्योंका नाश होता है और नरकोंमें निरन्तर पापोंका नाश होता है। पाप-पुण्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अन्तर्गत हैं। अतः पाप-पुण्य दोनों एक ही जातिके (बन्धनकारक) हैं, अशुभ हैं, मलिन हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌के सम्बन्धसे होनेवाले विरह तथा मिलन अत्यन्त दिव्य हैं, चिन्मय हैं, अलौकिक हैं, नित्य हैं और प्रेमकी वृद्धि करनेवाले हैं। भगवान्‌के सम्बन्धसे केवल पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं होते, प्रत्युत पाप-पुण्यका कारण अज्ञान (गुणसंग) ही नष्ट हो जाता है। इसलिये पाप-पुण्यका और विरह-

मिलनका विभाग ही अलग है।

तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी पुरुष परिस्थितिसे रहित नहीं होता, प्रत्युत सुख-दुःखसे रहित होता है। ज्ञानीके सामने भी प्रारब्धके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आती-जाती रहती है, पर उसपर परिस्थितिका असर नहीं होता अर्थात् वह सुखी-दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह गुणातीत है—'**समदुःखसुखःस्वस्थः**' (गीता १४। २४)। अगर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सुख-दुःख देनेवाली होती अर्थात् सुख-दुःख पाप-पुण्यका फल होता तो मनुष्य कभी सुख-दुःखसे रहित नहीं हो पाता, जबकि ज्ञानी पुरुष सुख-दुःखसे रहित हो जाता है—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**' (गीता १५। ५)। प्रह्लादजी, मीराबाई आदिके सामने कितनी ही प्रतिकूल

परिस्थितियाँ आयीं, फिर भी वे दुःखी नहीं हुए। इसलिये परिस्थितिसे रहित होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, पर उसका भोग न करनेमें अर्थात् सुखी-दुःखी न होनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे उसमें निर्विकारता स्वतःसिद्ध है।* अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभाः**' पदका अर्थ पाप नष्ट होना और '**क्षीणमङ्गलाः**' पदका अर्थ पुण्य नष्ट होना नहीं लिया जा सकता। तो फिर इन पदोंका क्या तात्पर्य है? अब इसपर

---

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
(मानस, उत्तर० ११७। १)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
(गीता १३। ३१)

विचार किया जाता है।

भगवान्‌के विरहसे गोपियोंको जो ताप (दु:ख) हुआ, वह दु:सह और तीव्र था— '**दु:सहप्रेष्ठ विरहतीव्रताप**।' यह ताप संसारके तापसे अत्यन्त विलक्षण है। सांसारिक तापमें तो दु:ख-ही-दु:ख होता है, पर विरहके तापमें आनन्द-ही-आनन्द होता है। जैसे मिर्ची खानेसे मुखमें जलन होती है, आँखोंमें पानी आता है, फिर भी मनुष्य उसको खाना छोड़ता नहीं; क्योंकि उसको मिर्ची खानेमें एक रस मिलता है। ऐसे ही प्रेमी भक्तको विरहके तीव्र तापमें उससे भी अत्यन्त विलक्षण एक रस मिलता है। इसीलिये चैतन्य महाप्रभु-जैसे महापुरुषने भी विरहको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। सांसारिक ताप तो पापोंके सम्बन्धसे होता है, पर विरहका ताप

भगवत्प्रेमके सम्बन्धसे होता है। इसलिये विरहके तापमें भगवान्‌के साथ मानसिक सम्बन्ध रहनेसे आनन्दका अनुभव होता है— 'ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या।'। जैसे प्यास वास्तवमें जलसे अलग नहीं है, ऐसे ही विरह भी वास्तवमें मिलनसे अलग नहीं है। जलका सम्बन्ध रहनेसे ही प्यास लगती है। प्यासमें जलकी स्मृति रहती है। अतः प्यास जलरूप ही हुई। इसी तरह विरह भी मिलनरूप ही है। विरह और मिलन—दोनों एक ही प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं। संसारके सम्बन्धमें सुख भी दुःखरूप है और दुःख भी दुःखरूप है, पर भगवान्‌के सम्बन्धमें दुःख (विरह) भी सुखरूप है और सुख (मिलन) भी सुखरूप (आनन्दरूप) है। कारण कि सांसारिक सुख-दुःख (अनुकूलता-

प्रतिकूलता) तो गुणोंके संगसे होते हैं, पर भगवान्‌का विरह और मिलन गुणोंसे अतीत हैं। इसलिये भगवान्‌के सम्बन्धसे होनेवाला दुःख (विरह) सांसारिक सुखसे भी बहुत अधिक आनन्द देनेवाला होता है! सांसारिक दुःखमें अभावरूप संसारका सम्बन्ध है, पर विरहके दुःखमें भावरूप भगवान्‌का सम्बन्ध है। सांसारिक दुःखमें कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता रह जाती है; परन्तु विरहके दुःखमें कर्मोंका कारण (गुणोंका संग) ही नष्ट हो जाता है और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल परमात्माकी सत्ता रहती है। सांसारिक दुःखसे जन्म-मरणरूप बन्धन नष्ट नहीं होता, पर विरहके दुःखसे यह बन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है—'**प्रक्षीणबन्धना:।**' इसलिये श्रीकृष्णके

विरहके तीव्र तापसे गोपियोंका गुणमय शरीर छूट गया। इसके साथ मन-ही-मन श्रीकृष्णका मिलन होनेसे गोपियोंको ब्रह्मलोकके सुखसे भी विलक्षण सुखका अनुभव हुआ। कारण कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे बन्धनकारक हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८।१६)। अतः ब्रह्मलोकका सुख भी प्राकृत है, जबकि गोपियोंको मिलनेवाला ध्यानजनित सुख प्रकृतिसे अतीत है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के विरहके दुःखसे और ध्यानजनित मिलनके सुखसे गोपियोंके पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं हुए, प्रत्युत जन्म-मरणका कारण जो गुणोंका संग है, वह भी नष्ट हो गया! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—तीनों गुणोंका संग मिटनेसे उनका गुणमय शरीर भी छूट

गया और वे भगवान्‌के पास जा पहुँचीं—'**जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।**' कारण कि सत्त्व, रज और तम—तीनों ही गुण जीवको शरीरमें बाँधनेवाले हैं।* इन गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। गुणसंग नष्ट होनेके कारण गोपियाँ किसी ऊँची या नीची योनिमें नहीं गयीं, प्रत्युत सीधे भगवान्‌को ही प्राप्त हो गयीं। तात्पर्य है कि जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे गोपियाँ मुक्त हो गयीं—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (गीता ९।२८)। जिस बन्धनके रहते हुए

---

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४।५)

नरकोंका दु:ख भोगा जाता है और जिस बन्धनके रहते हुए स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिका सुख भोगा जाता है, गोपियोंका वह बन्धन (गुणोंका संग) सर्वथा नष्ट हो गया। कारण कि बन्धन पाप-पुण्यसे नहीं होता, प्रत्युत गुणोंके संगसे होता है। अत: भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभा:**' पदका अर्थ हुआ कि रजोगुण तथा तमोगुण नष्ट हो गये और '**क्षीणमङ्गला:**' पदका अर्थ हुआ कि सत्त्वगुण नष्ट हो गया।* सत्त्वगुण

---

* आगे राजा परीक्षित् और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नोत्तरसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गोपियाँ तीनों गुणोंसे छूट गयी थीं। परीक्षित्‌ने पूछा—

कृष्णं विदु: परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १२)

'मुने! उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें ब्रह्मबुद्धि नहीं थी, प्रत्युत

प्रकाशक और अनामय है, इसलिये उसको यहाँ 'मङ्गल' नामसे कहा गया है।* परन्तु

वे श्रीकृष्णको केवल अपना परमपति ही मानती थीं। फिर उन गुणोंमें आसक्त गोपियोंका गुणप्रवाहरूप (गुणमय) शरीर कैसे नष्ट हो गया?'

श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १४)

'राजन्! भगवान् अव्यय (सर्वथा निर्विकार), अप्रमेय (ज्ञानका विषय नहीं), सत्त्वादि गुणोंसे रहित और सौन्दर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। वे केवल मनुष्योंके परम कल्याणके लिये ही सबके सामने प्रकट होते हैं।'

* गीतामें सत्त्वगुणको भी अनामय कहा गया है—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' (१४। ६) और परमपदको भी अनामय कहा गया है—'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' (२। ५१)। दोनोंमें फर्क यह है कि सत्त्वगुण सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

प्रकाशक और अनामय होनेपर भी वह सुख और ज्ञानके संगसे बाँधनेवाला होता है— **'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'** (गीता १४।६)। ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका मन-ही-मन आलिङ्गन करनेसे गोपियोंको जो विलक्षण सुख हुआ, उस सुखसे सत्त्वगुणसे होनेवाले सुखसंग और ज्ञानसंगका भी सुख मिट गया अर्थात् सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञानकी भी आसक्ति मिट गयी! इस प्रकार जन्म-मरणका कारण जो तीनों गुणोंका संग है, वह सर्वथा नहीं रहा, जिसके न रहनेसे गोपियोंका गुणमय शरीर भी नहीं रहा।

तत्त्वज्ञान शरीरके सम्बन्ध (अहंता-ममता) का नाश तो करता है, पर शरीरका नाश नहीं करता। कारण कि जीवन्मुक्त होनेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो क्षीण

हो जाते हैं, पर प्रारब्ध क्षीण नहीं होता। इसलिये जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक शरीर भी रहता है। अगर शरीर तत्काल नष्ट हो जाय तो फिर ज्ञानका उपदेश कौन करेगा? ब्रह्मविद्याकी परम्परा कैसे चलेगी? परन्तु गोपियोंका विरहजन्य ताप इतना विलक्षण था कि उनका गुणसंग तो रहा ही नहीं, गुणमय शरीर भी नष्ट हो गया! उनके संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—तीनों एक साथ तत्काल (सद्यः) और सर्वथा क्षीण (प्रक्षीण) हो गये—'**सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः**।' इससे सिद्ध होता है कि 'वियोग' में बन्धन जल्दी छूटता है, पर 'योग' में देरी लगती है। वियोगमें योगसे भी विलक्षण आनन्द होता है।

विरहका तीव्र ताप जन्म-मरणके मूल कारण गुणसंग (मूल अज्ञान) को ही जला देता है। जो गोपियाँ वंशीवादन सुनकर भगवान्‌के पास चली गयी थीं, उनका वह अनादिकालका गुणसंग नष्ट नहीं हुआ; क्योंकि उनको वियोगजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ। परन्तु जिनको वियोगजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके लिये अनादिकालके गुणसंगसहित सम्पूर्ण जगत्‌की निवृत्ति हो गयी और वे सबसे पहले भगवान्‌से जा मिलीं। विरहके तीव्र तापसे उनका शरीर छूट गया और ध्यानजनित आनन्दसे वे भगवान्‌से अभिन्न हो गयीं। वे भगवान्‌से बाहर न मिलकर भीतरसे ही मिल गयीं, जो कि वास्तविक (सर्वथा) मिलन है।

यद्यपि श्रीकृष्णके प्रति उन गोपियोंकी

जारबुद्धि थी अर्थात् उनकी दृष्टि परमपति भगवान्‌के शरीरकी सुन्दरताकी तरफ थी तो भी वे भगवान्‌को प्राप्त हो गयीं—'**तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः**।' जारबुद्धि होनेपर भी गोपियोंमें अपने सुखकी इच्छा (काम) लेशमात्र भी नहीं है। अगर उनमें अपने सुखकी इच्छा होती तो वे अपने शरीरको सजाकर भगवान्‌के पास जातीं। यहाँ 'जारबुद्धि' शब्द इसलिये दिया है कि गोपियोंका विवाह तो दूसरेके साथ हुआ था, पर उनका प्रेम श्रीकृष्णमें था। उनका गुणमय शरीर ही नहीं रहा, फिर भोगबुद्धि कैसे रहेगी? भोगबुद्धिके रहनेका स्थान ही नहीं रहा, केवल परमात्मा ही रहे। गोपियोंमें यह विलक्षणता भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य वस्तुशक्ति (स्वरूपशक्ति) से आयी है,

अपनी भावशक्तिसे नहीं। भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे गोपियोंकी जारबुद्धि नष्ट हो गयी। जैसे अग्निसे सम्बन्ध होनेपर सभी वस्तुएँ (अग्निकी वस्तुशक्तिसे) अग्निरूप ही हो जाती हैं, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के साथ काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि किसी भी भावसे सम्बन्ध जोड़े, वह (भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे) भगवत्स्वरूप ही हो जाता है।* इसमें भक्तका भाव, उसका

---

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥

(श्रीमद्भा० ७।१।२९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके

प्रयास काम नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य स्वरूपशक्ति काम करती है। इसका कारण यह है कि भगवान् जीवके कल्याणके लिये ही प्रकट होते हैं—'**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप**' (श्रीमद्भा० १०। २९। १४)।

गीतामें भगवान्‌के चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)*। यद्यपि अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुका गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तथापि मुख्य सम्बन्ध भगवान्‌के साथ रहनेके कारण वे भी तीनों गुणोंसे रहित हो जाते

सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि)-ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि)-ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७। १६)

हैं। इसलिये जिस-किसी उपायसे जीवका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ना चाहिये—'**तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्**' (श्रीमद्भा० ७। १। ३१); क्योंकि जीव भगवान्‌का ही अंश है। भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भोगोंका सम्बन्ध मिट जाता है, पर भोगोंका सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भगवान्‌का सम्बन्ध छिप जाता है, मिटता नहीं। कारण कि जीवका भगवान्‌के साथ नित्ययोग है।

भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम आता है—'**चोरजारशिखामणि।**' इसका अर्थ है कि भगवान्‌के समान चोर और जार दूसरा कोई है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। दूसरे चोर और जार तो केवल अपना ही सुख चाहते हैं, पर भगवान् केवल दूसरेके सुखके

लिये चोर और जारकी लीला करते हैं। उनकी ये दोनों ही लीलाएँ दिव्य, विलक्षण, अलौकिक हैं—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४। ९)।* संसारी चोर तो केवल वस्तुओंकी ही चोरी करते हैं, पर भगवान् वस्तुओंके साथ-साथ उन वस्तुओंके राग, आसक्ति, प्रियता आदिको भी चुरा लेते हैं। भगवान्‌ने गोपियोंके मक्खनके साथ-साथ उनके रागरूप बन्धनको भी खा लिया था। वे जार बनते हैं तो सुखके भोक्ताके साथ-साथ सुखासक्ति, सुखबुद्धिका भी हरण कर

---

* यद्यपि देवता भी दिव्य कहलाते हैं, तथापि उनकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे कही जाती है। परन्तु भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष होनेसे देवताओंसे भी विलक्षण है। इसलिये देवता भी भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य रूपके दर्शनकी नित्य इच्छा रखते हैं—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः' (गीता ११।५२)।

लेते हैं, जिससे सम्बन्धजन्य आकर्षण (काम) न रहकर केवल भगवान्‌का आकर्षण (विशुद्ध प्रेम) रह जाता है, अन्यकी सत्ता न रहकर केवल भगवान्‌की सत्ता रह जाती है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने भक्तोंमें किसीको चोर और जार रहने ही नहीं देते, उनके चोर-जारपनेको ही हर लेते हैं। 'कनक' (धन) और 'कामिनी' (स्त्री) की आसक्तिसे ही मनुष्य 'चोर' और 'जार' होता है। अतः कनक-कामिनीकी आसक्तिका सर्वथा अभाव करनेवाले होनेसे भगवान् चोर और जारके भी शिखामणि हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि जिन गोपियोंका गुणमय शरीर नहीं रहा, उनकी भगवान्‌के साथ रासलीला कैसे हुई? इसका समाधान है कि वास्तवमें रासलीला गुणोंसे

अतीत (निर्गुण) होनेपर ही होती है। गुणोंके रहते हुए भगवान्‌के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी अपेक्षा गुणोंसे रहित होकर भगवान्‌के साथ होनेवाला सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भाव भी वास्तवमें गुणातीत (मुक्त) होनेपर ही होते हैं।* एक श्लोक आता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'तत्त्वबोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत

---

* भक्तियोगकी यह विलक्षणता है कि उसमें साधक पहलेसे ही (गुणोंके रहते हुए भी) भगवान्‌में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भाव कर सकता है।

द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भगवान्‌को विलक्षण आनन्द देनेवाला जो प्रेम है, वह गुणोंमें नहीं है, प्रत्युत निर्गुणमें है। कारण कि गुणातीत भगवान् भी जिस प्रेमके लोभी हैं, वह प्रेम गुणमय कैसे हो सकता है? जैसे भगवान्‌का शरीर दिव्य है, गुणमय नहीं है, ऐसे ही उन गोपियोंका शरीर भी दिव्य हो गया, गुणमय नहीं रहा। सगुण भगवान् भी सत्त्व-रज-तम-गुणोंसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण भगवान्‌की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—'**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २५), '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २७) आदि। भगवान्‌की भक्ति करनेसे मनुष्य

गुणातीत हो जाता है।* तात्पर्य यह है कि भगवान्‌से सम्बन्ध होनेपर सत्त्व, रज और तमोगुण रहते ही नहीं। अत: रासलीलामें जो शरीर थे, वे हमारे शरीर-जैसे गुणोंवाले नहीं थे, प्रत्युत भगवान्‌के शरीर-जैसे तीनों गुणोंसे रहित अर्थात् दिव्यातिदिव्य थे। उस रासलीलामें जितनी भी गोपियाँ गयी थीं, वे सब-की-सब भगवान्‌की इच्छासे दिव्य भावमय शरीर धारण करके ही गयी थीं। इसीलिये उन गोपियोंके गुणमय शरीरोंको उनके पतियोंने अपने पास (घरमें ही) सोते हुए देखा—'**मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान्**

---

* मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (गीता १४। २६)

'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

स्वान् दारान् व्रजौकसः' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)।

तात्पर्य यह निकला कि जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ, उनके गुणमय शरीर तो पतिके पास रहे, पर (जीवन्मुक्तकी तरह) उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहा, केवल शरीरका भान रहा। परन्तु जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके गुणमय शरीर और उनका भान ही नहीं रहा, फिर उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता; क्योंकि उनका अनादिकालका गुणसंग ही नहीं रहा, जो कि जन्म-मरणका मूल कारण है।

रासलीला—प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम

भगवान् अनन्त हैं, इसलिये उनका सब कुछ अनन्त है—'**हरि अनंत हरि कथा अनंता**' (मानस, बाल० १४०। ३)। उनका प्रेम भी अनन्त है। इसलिये प्रेममें अनन्तरस है। अनन्तरसका तात्पर्य है कि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान होनेके लिये प्रेममें विरह और मिलन—दोनोंका ही होना आवश्यक है। कारण कि विरहके बिना रसकी वृद्धि नहीं होती और मिलनके

बिना रसकी अनुभूति नहीं होती, उसका आस्वादन नहीं होता। संसारमें तो संयोगका रस भी नहीं रहता और वियोगका रस भी नहीं रहता; क्योंकि संसारका नित्यवियोग है। परन्तु मिलन (योग) का रस भी नित्य रहता है और विरह (वियोग) का रस भी नित्य रहता है; क्योंकि भगवान्‌का नित्ययोग है। संसारके नित्यवियोगके अन्तर्गत संयोग-वियोग होते हैं और भगवान्‌के नित्ययोगके अन्तर्गत मिलन-विरह होते हैं। जैसे, माता कौसल्या सुमित्रासे कहती हैं कि 'हे सुमित्रे! यदि रामजी वनमें चले गये हैं तो फिर मेरेको दीखते क्यों हैं? और यदि वनमें नहीं गये हैं तो सामने दीखनेपर

भी हृदयमें जलन क्यों होती है? अत: प्रेममें मिलन और विरह दोनों साथ-साथ रहते हैं—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

'**अरबरात मिलिबे को निसिदिन मिलेइ रहत**'—यह मिलन है और '**मनु कबहुँ मिलै ना**'—यह विरह है। राधाजी सखीसे कहती हैं कि तुम धन्य हो जो श्रीकृष्णको देखती हो! मैंने तो आजतक श्रीकृष्णको देखा ही नहीं! कारण कि जब श्रीकृष्ण सामने आये तो राधाजीकी दृष्टि उनके कर्णकुण्डलमें ही अटक

गयी, स्थिर हो गयी, उससे आगे बढ़ी ही नहीं! फिर वे श्रीकृष्णको कैसे देखें?

भगवान्‌का मिलन और विरह दोनों ही नित्य हैं, अनिर्वचनीय हैं, दिव्य हैं, जिनसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। मिलनमें प्रेमीको अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देती है कि जैसे भगवान् हैं, वैसा (भगवान्‌के लायक) मेरेमें प्रेम नहीं है; और विरहमें प्रेमीको कभी प्रेमास्पदकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत निरन्तर स्मृति (तल्लीनता) बनी रहती है। यह मिलन और विरह—दोनों भगवान् देते हैं और दोनों भगवत्स्वरूप ही होते हैं। वे 'विरह' इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमीका अनुभव करे और कमीका अनुभव होनेसे प्रेम बढ़े। वे 'मिलन' इसलिये देते हैं कि भक्त प्रेमका अनुभव

करे, आस्वादन करे।

भक्तका भगवान्‌में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि कोई भी भाव हो, भक्तकी अपनी अलग सत्ता नहीं होती; क्योंकि प्रेममें भक्त और भगवान् एक होकर दो होते हैं और दो होकर भी एक ही रहते हैं। इसलिये प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनोंमें कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। शङ्करजीके लिये कहा भी है—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'** (मानस, बाल० १५। २)। दक्षिण भारतमें एक मन्दिर है, जिसमें शङ्करजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दीके ऊपर शङ्करजी हैं, कभी शङ्करजीके ऊपर नन्दी हैं! कभी भगवान् भक्तके इष्ट बन जाते हैं, कभी भक्त भगवान्‌का इष्ट बन जाता है—**'इष्टोऽसि मे**

दृढमिति' (गीता १८। ६४)। कभी श्रीकृष्ण राधा बन जाते हैं, कभी राधा श्रीकृष्ण बन जाती है।

ज्ञानका अखण्डरस तो शान्त है, पर प्रेमका अनन्तरस प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान कहनेका अर्थ यह नहीं है कि प्रेममें कुछ कमी रहती है और उस कमीकी पूर्तिके लिये वह बढ़ता है। वास्तवमें प्रेम कम या अधिक नहीं होता। जैसे, समुद्र भीतरसे शान्त रहता है, पर बाहरसे उसपर लहरें उठती हैं और चन्द्रमाको देखकर उसमें उछाल आता है। परन्तु लहरें उठनेपर, उछाल आनेपर भी समुद्रका जल कम-ज्यादा नहीं होता, उतना-का-उतना ही रहता है। ऐसे ही प्रेमके अनन्तरसमें लहरें उठती हैं, उछाल

आता है, पर वह कम-ज्यादा नहीं होता। जब प्रेम शान्त रहता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक अर्थात् अभिन्न होते हैं; और जब प्रेममें उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो होते हैं। प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी दो होते हैं—यह विरह है और दो होकर भी एक ही रहते हैं—यह मिलन है।

इस प्रकार प्रतिक्षण वर्धमान रस (प्रेम) का ही नाम '**रास**' है। कल्पना करें कि किसीको ऐसी प्यास लगे, जो कभी बुझे नहीं और जल भी घटे नहीं तथा पेट भी भरे नहीं तो ऐसी स्थितिमें जलके प्रत्येक घूँटमें नित्य नया रस मिलेगा। इसी तरह प्रेममें भी श्रीकृष्णको देखकर श्रीजीको और श्रीजीको देखकर

श्रीकृष्णको नित्य नया रस मिलता है और उन दोनोंके रसका अनुभव गोपियाँ करती हैं! प्रेमकी इस वृद्धिका नाम ही 'रासलीला' है।

अनिर्वचनीय प्रेम

जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मुझे अपनी शरणमें लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भगवान् अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्त होनेपर वह 'स्व' में स्थित हो जाता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता

१४। २४)। 'स्व' में स्थित होनेपर 'स्व'-पना अर्थात् व्यक्तित्वका सूक्ष्म अहंकार रह जाता है, जिसके कारण उसको 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव होता है। जीव परमात्माका अंश है। अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है। अतः 'स्व' में स्थित अर्थात् मुक्त होनेके बाद जब उसको मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब 'स्व' का 'स्वकीय' (परमात्मा) की तरफ स्वतः आकर्षण होता है। कारण कि मुक्त होनेपर जीवके दुःखोंका अन्त और जिज्ञासाकी पूर्ति तो हो जाती है, पर प्रेम-पिपासा शान्त नहीं होती। तात्पर्य है कि प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता। स्वकीयकी तरफ आकर्षण होनेसे अर्थात् प्रेम जाग्रत् होनेसे अखण्ड आनन्द 'अनन्त

आनन्द' में बदल जाता है और व्यक्तित्वका सर्वथा नाश हो जाता है।

मुक्त होनेसे पहले जीव और भगवान्‌में जो भेद होता है, वह बन्धनमें डालनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद जीव (प्रेमी) और भगवान् (प्रेमास्पद) में जो प्रेमके लिये स्वीकृत भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

कारण कि बोधसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण होता है और बोधके बादका (प्रेमकी वृद्धिके लिये होनेवाला) भेद अहम्‌का नाश होनेपर होता है।

जैसे संसारमें 'किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर ज्ञान बढ़ता नहीं, प्रत्युत अज्ञान मिट जाता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञानको मिटाकर ज्ञान खुद भी शान्त हो जाता है और स्व-स्वरूप स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसलिये ज्ञानमार्गमें अखण्ड, शान्त, एकरस आनन्द मिलता है। परन्तु जैसे संसारमें किसी वस्तुमें आसक्ति होनेपर फिर आसक्ति बढ़ती ही रहती है—'***जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई***', ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌में

प्रेम होनेपर फिर वह प्रेम बढ़ता ही रहता है। इसलिये भक्तिमार्गमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि आकर्षणमें जो आनन्द है, वह ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुका ज्ञान तो बाँधता है, पर स्वरूपका ज्ञान मुक्त करता है। इसी तरह सांसारिक वस्तुका आकर्षण तो अपार दुःख देता है, पर भगवान्‌का आकर्षण अनन्त आनन्द देता है।

अनन्तरसको प्रवाहित करनेवाली प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—नित्यमिलन और नित्यविरह। नित्यमिलनसे प्रेममें चेतना आती है, विशेष विलक्षणता आती है, प्रेमका उछाल आता है और नित्यविरहसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान

होता है अर्थात् अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देनेपर 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह उत्कण्ठा होती है।

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।

जैसे धनी आदमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. धन २. धनका नशा अर्थात् अभिमान और ३. धन बढ़नेकी इच्छा। ऐसे ही प्रेमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. प्रेम २. प्रेमकी मादकता, मस्ती और ३. प्रेम बढ़नेकी इच्छा। धनी आदमीमें जो 'धन और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह लोभरूपी दोषके बढ़नेसे होती है। परन्तु प्रेमीमें जो 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेसे होती है।

अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेके बाद जहाँ अहंता (मैं-पन) थी, वहाँ 'नित्यमिलन' प्रकट होता है और जहाँ ममता (मेरा-पन) थी, वहाँ 'नित्यविरह' प्रकट होता है। वास्तवमें नित्यमिलन (नित्ययोग) और नित्यविरह—दोनों जीवमें सदासे विद्यमान हैं, पर भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जानेसे 'नित्यमिलन' ने अहंताका रूप धारण कर लिया और 'नित्यविरह' ने ममताका रूप धारण कर लिया। अहंता और ममताके पैदा होनेसे प्रेम दब गया और संसारकी आसक्ति या मोह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि दोषोंके रहनेसे संसारकी आसक्ति बढ़ती है और दोषोंके मिटनेसे शान्ति मिलती है एवं शान्तिमें सन्तोष न करनेसे प्रेम बढ़ता है। संसारमें

प्रियता काम-क्रोधादि दोषोंसे होती है, पर भगवान्‌में प्रियता निर्दोषतासे होती है। जबतक अपनेमें थोड़ा भी संसारका आकर्षण है, तबतक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि प्रेमकी जगह कामने ले ली! प्रेम प्राप्त होनेपर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं रहता।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान तभी होता है, जब उसमें पहली अवस्थाका क्षय और दूसरी अवस्थाका उदय होता है। पहली अवस्थाका त्याग 'नित्यविरह' और दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति 'नित्यमिलन' है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेममें क्षय या उदय, त्याग या प्राप्ति है ही नहीं, प्रत्युत प्रेमके नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्रतिक्षण वर्धमान होनेसे उसमें क्षय या उदयकी प्रतीति होती है।

प्रेममें प्रेमीको अपनेमें एक कमीका भान होता है, जिससे उसमें 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह लालसा (भूख) होती है। अगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'और बढ़े, और बढ़े' इस लालसामें प्रेमकी प्राप्ति भी है और कमी भी! कमी नहीं है, फिर भी कमी दीखती है। इसलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारद० ५१-५२)

आनन्द भी आये और कमी भी दीखे—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

जो पूर्णताको प्राप्त हो गये हैं, जिनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहा, ऐसे महापुरुषोंमें भी प्रेमकी भूख रहती है। उनका भगवान्‌की तरफ स्वतः

-स्वाभाविक खिंचाव होता है। इसलिये भगवान् '**आत्मारामगणाकर्षी**' कहलाते हैं। सनकादि मुनि '***ब्रह्मानंद सदा लयलीना***' होते हुए भी भगवल्लीला-कथा सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं।
रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ३)

जब वे वैकुण्ठधाममें गये, तब वहाँ भगवान्‌के चरणकमलोंकी दिव्य गन्धसे उनका स्थिर चित्त भी चंचल हो उठा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

भगवान् श्रीरामको देखकर तत्त्वज्ञानी जनक भी कह उठे—

सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। २-३)

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान् शंकरके मनमें भगवल्लीला सुनानेकी लालसा होती है और जगज्जननी पार्वतीके

मनमें सुननेकी लालसा होती है। भगवान् शंकर कैलासको छोड़कर यशोदाजीके पास आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मैया! एक बार अपने लालाका मुख तो दिखा दे! जब वे सतीजीके साथ कैलास जा रहे थे, तब भी मार्गमें भगवान् श्रीरामका दर्शन करके उनकी विचित्र दशा हो गयी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी।
उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

इस प्रकार सनकादि, जनक, भगवान् शंकर आदि सभीका स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है। इस खिंचावका नाम ही प्रेम है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

कोई कमी भी न हो और प्रेमकी भूख भी हो—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। सत्संगमें लगे हुए साधकोंका यह अनुभव

भी है कि प्रतिदिन सत्संग सुनते हुए, भगवान्‌की लीलाएँ सुनते हुए, भजन-कीर्तन करते और सुनते हुए भी न तो उनसे तृप्ति होती है और न उनको छोड़नेका मन ही करता है। उनमें प्रतिदिन नया-नया रस मिलता है, जिसमें भूतकालका रस फीका दीखता है और वर्तमानका रस विलक्षण दीखता है*। इस प्रकार प्रेममें पूर्णता भी है और अभाव भी है—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

ज्ञानमें तो स्वरूपमें स्थिति होती है, जिससे ज्ञानीको सन्तोष हो जाता है—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' (गीता ३। १७); परन्तु प्रेममें न

---

* राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
(मानस, उत्तर० ५३। १)

स्थिति होती है और न सन्तोष होता है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

वास्तवमें प्रेमका निर्वचन (वर्णन) किया ही नहीं जा सकता। अगर उसका निर्वचन कर दें तो फिर वह अनिर्वचनीय कैसे रहेगा?

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरो प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

भगवान्‌के ही समग्ररूपका एक अंश अथवा ऐश्वर्य ब्रह्म है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' (गीता ७। २९), '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७)। समग्ररूप (समग्रम्) विशेषण है और भगवान् (**माम्**) विशेष्य हैं—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (गीता ७। १)। इसी तरह भगवान्‌ने अधियज्ञ (अन्तर्यामी) को भी अपना स्वरूप

बताया है—'**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे**' (गीता ८। ४)। अतः ब्रह्म विशेषण है और अन्तर्यामी भगवान् विशेष्य हैं। इसलिये ज्ञानीका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध विशेष्यके साथ होता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानीका सम्बन्ध ऐश्वर्यके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध ऐश्वर्यवान्के साथ होता है।

ज्ञानीकी तो ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' होती है, पर भक्तकी भगवान्के साथ 'आत्मीय एकता' होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है।' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत

'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् शरणागत भक्तके लिये आया है—'**वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) की 'तात्त्विक एकता' में तो जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है तथा एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी 'आत्मीय एकता' में जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं।

यद्यपि भगवान् सर्वथा पूर्ण हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है, फिर भी वे प्रेमके भूखे हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये

भगवान् प्रेम-लीलाके लिये श्रीजी और कृष्णरूपसे दो हो जाते हैं—

येयं राधा यश्च कृष्णो
रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।

(राधातापनीयोपनिषद्)

वास्तवमें श्रीजी कृष्णसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत कृष्ण ही प्रेमकी वृद्धिके लिये श्रीजीको अलग करते हैं। तात्पर्य है कि प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त भगवान्‌से अलग नहीं होता, प्रत्युत भगवान् ही प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके लिये भक्तको अलग करते हैं। इसलिये प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त और भगवान्—दोनोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। दोनों ही एक-दूसरेके भक्त और दोनों ही एक-दूसरेके इष्ट होते हैं। तत्त्वज्ञानसे पहलेका भेद (द्वैत) तो अज्ञानसे

होता है, पर तत्त्वज्ञानके बादका (प्रेमका) भेद भगवान्‌की इच्छासे होता है।

अभिन्नता दो होते हुए भी हो सकती है; जैसे बालककी माँसे, सेवककी स्वामीसे, पत्नीकी पतिसे अथवा मित्रकी मित्रसे अभिन्नता होती है। इसलिये भक्तिमें आरम्भसे ही भक्तकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है—'**साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को**' (कवितावली, उत्तर० १०७)। कारण कि भक्त अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता। उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् ही हैं, मैं हूँ ही नहीं।

प्रेममें माधुर्य है। अतः 'प्रभु मेरे हैं' ऐसे अपनापन होनेसे भक्त भगवान्‌का

ऐश्वर्य (प्रभाव) भूल जाता है। जैसे, महारानीका बालक उसको 'माँ मेरी है' ऐसे मानता है तो उसका प्रभाव भूल जाता है कि यह महारानी है। एक बाबाजीने गोपियोंसे कहा कि कृष्ण बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, उनके पास ऐश्वर्यका बड़ा खजाना है, तो गोपियाँ बोलीं कि महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है! तात्पर्य है कि माधुर्यमें ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जाती है। संसारमें तो ऐश्वर्यका ही ज्यादा आदर है, पर भगवान्‌में माधुर्यका ज्यादा आदर है। जिस समय भगवान्‌में माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति दूर भाग जाती है, पासमें

नहीं आती। वास्तवमें भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखता ही नहीं। कारण कि भगवान्‌को भगवान् समझकर प्रेम करना भगवान्‌के साथ प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्ता (ऐश्वर्य) के साथ प्रेम है। जैसे, धनको देखकर धनवान्‌के साथ स्नेह करना वास्तवमें धनवत्ताके साथ स्नेह करना है।

प्रेमकी जागृतिमें भगवान्‌की कृपा ही खास कारण है। प्रेमकी वृद्धिके लिये विरह और मिलन भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। आदरपूर्वक भगवल्लीलाका श्रवण, वर्णन, चिन्तन तथा भगवन्नामका कीर्तन आदि साधनोंके बलसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत समयका सदुपयोग होता है, जिसको

वैष्णवाचार्योंने 'कालक्षेप' कहा है। भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है उनकी शरण होनेपर। शरण होनेमें संसारके आश्रयका त्याग मुख्य है।

संसारसे अलग होनेपर संसारका ज्ञान होता है और भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। कारण कि जीव संसारसे अलग है और भगवान्‌से अभिन्न है—यह वास्तविक, यथार्थ बात है। परन्तु शरीर-संसारसे एकता माननेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और संसारका ज्ञान न होनेसे ही संसारकी तरफ खिंचाव होता है। इसी तरह भगवान्‌से भिन्नता माननेसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं होता और भगवान्‌का ज्ञान न होनेसे ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव

नहीं होता। संसार अपना नहीं है—इस तरह संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान् अपने हैं—इस तरह भगवान्‌का ज्ञान होनेसे भगवान्‌के साथ अभिन्नता होकर प्रेम हो जाता है।